सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण

डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय

प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी...

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र-भाष्य वाचक उमास्वाति (ई. सन् ३६५-४००) द्वारा रचित स्वोपज्ञ कृति है। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र जैन आगमिक-दार्शनिक साहित्य का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पूरे जैन वाङ्मय में यदि कोई एक ग्रन्थ चुनना हो जो जैनदर्शन के लगभग प्रत्येक आयाम पर प्रकाश डालता हो तो वह वाचक उमास्वाति-रचित तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ही है, जिसे जैन वाङ्मय का प्रथम संस्कृत ग्रन्थ होने का गौरव भी प्राप्त है। सूत्रशैली में निबद्ध दशाध्यायात्मक इस लघुकाय ग्रन्थ में आचार्य उमास्वाति ने समस्त जैन-तत्त्वज्ञान को संक्षेप में गागर में सागर की तरह भर दिया है जो उनकी असाधारण प्रज्ञा, क्षमता एवं उनके विशाल ज्ञानभंडार का परिचायक है। जैन परंपरा के सभी संप्रदायों में इस ग्रन्थ को समानरूप से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। श्वेताम्बर एवं दिगंबर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस ग्रन्थ पर भाष्य, वृत्तियाँ एवं टीकाएँ लिखीं तथा सूत्रों का अवलम्बन लेकर अपने-अपने अभीष्ट मतप्रदर्शक कतिपय सिद्धान्त प्रतिफलित किए। परंतु इस सबके बावजूद एक वस्तु निर्विवाद रही है और वह है ग्रन्थ की लोकप्रियता।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र का संकलन आगमिक दृष्टि से जितना अधिक सुंदर और आकर्षक हुआ है, उसके रचयिता के विषय में उतना ही अधिक विवाद है। यही कारण है कि आज भी इस ग्रन्थ के रचियता उमास्वाति हैं या उमास्वामी या गृध्रपिच्छ इसको लेकर विवाद कायम है। उसी प्रकार तत्त्वार्थाधिगम सूत्रभाष्य रचना को लेकर भी विवाद के बादल पूर्ववत् छाये हुए हैं।

तत्त्वार्थाधिमगसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य के कर्ता के रूप में उमास्वाति का नाम सामान्यतया श्वेताम्बर परंपरा में सर्वमान्य है। किन्तु पं. फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री प्रभृति दिगम्बर विद्वानों ने तत्त्वार्थ के कर्ता के रूप में उमास्वाति के स्थान पर गृध्रपिच्छाचार्य को स्वीकार किया है। उनके शब्दों में वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थाधिगम की रचना की थी किन्तु यह नाम तत्त्वार्थसूत्र का न होकर तत्त्वार्थ के भाष्य का है[१]। इस सन्दर्भ में उन्होंने षट्खण्डागम की धवलाटीका में वीरसेन (९वीं शती उत्तरार्द्ध) द्वारा उद्धृत तत्त्वार्थ के एक सूत्र, 'तहगिद्धपिंछाइरियाप्पयासिद तच्चत्थसुत्तेवि वर्तना परिणामक्रियाः परत्वा परत्वे च कालस्य',[२] विद्यानन्द (९वीं शती उत्तरार्द्ध) द्वारा उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[३] में 'एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्त मुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता' के आधार पर तत्त्वार्थ के कर्ता के रूप में 'गृध्रपिच्छ' का उल्लेख एवं वादिराजसूरि द्वारा पार्श्वनाथ चरित में गृध्रपिच्छ नतोऽस्मि किए गए इन तीन उल्लेखों को अपना आधार बनाया है। इनमें दो प्रमाण नवीं शती के उत्तरार्द्ध एवं एक प्रमाण ग्यारहवीं शती का है। परंतु जहाँ दिगंबर परंपरा में तत्त्वार्थ के कर्ता के रूप में ९वीं शती के उत्तरार्द्ध से गृध्रपिच्छाचार्य के और १३वीं शती से 'गृध्रपिच्छ उमास्वाति' ऐसे उल्लेख मिलते हैं, वहाँ श्वेताम्बर परंपरा में तत्त्वार्थभाष्य (तीसरी-चौथी शती) तथा सिद्धसेनगणि (८वीं शती) और हरिभद्र (८वीं शती) की प्राचीन टीकाओं में भी उसके कर्ता के रूप में उमास्वाति का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है। यही नहीं, उनके वाचक वंश और उच्चैर्नागर शाखा का भी उल्लेख है, जिसे श्वेताम्बर परंपरा अपना मानती है। तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति ही हैं और गृध्रपिच्छ उनका विशेषण है इस बात को दिगम्बर विद्वान् पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने भी स्वीकार किया है[४]। पं. नाथूराम प्रेमी जैसे तटस्थ विद्वानों ने भी तत्त्वार्थभाष्य को स्वोपज्ञ मानकर उसके कर्त्ता के रूप में उमास्वाति को ही स्वीकार किया है। पं. फूलचंद शास्त्री संभवतः इस भय के कारण कि तत्त्वार्थ के कर्ता उमास्वाति को स्वीकार करने पर कहीं भाष्य को भी स्वोपज्ञ न मानना पड़े, उसके कर्त्ता के रूप में गृध्रपिच्छाचार्य का उल्लेख किया है[५]। अतः यह स्पष्ट है कि तत्त्वार्धाधिगमसूत्रभाष्य वाचक उमास्वाति द्वारा रचित प्रस्तुत शास्त्र पर उन्हीं की स्वोपज्ञ कृति है।

चूँकि हमारा मुख्य विवेच्य ग्रन्थ का कर्ता और उसका समय नहीं है, इसलिए इन विवादों में न पड़कर अपने मूल विवेच्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन करेंगे।

दार्शनिक चिंतनधारा में प्रमाण को एक अत्यंत विचारगर्भ विषय माना गया है। इसीलिए सभी दार्शनिक निकायों में प्रमाण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को लेकर विस्तृत विचार हुआ है। 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्[६]' जिसके द्वारा प्रमा (अज्ञाननिवृत्ति) हो वह प्रमाण है। प्रमाण शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार ही न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने ज्ञानोपलब्धि के साधनों को प्रमाण कहा है[७]। इसकी व्याख्या करने वालों में मतभेद हैं। न्यायवार्तिककार उद्योतकर अर्थ की उपलब्धि में सन्निकर्ष को साधकतम मानकर उसे ही प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार अर्थ का ज्ञान कराने में सबसे अधिक साधक सन्निकर्ष हैं। क्योंकि चक्षु का घट के साथ संयोग होने पर ही घट का ज्ञान होता है, जिस अर्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता, उसका ज्ञान नहीं होता। नैयायिक संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव इन छह प्रकार के सन्निकर्षो के आधार पर प्रमाण की व्याख्या करते हैं। इसके अतिरिक्त नैयायिक कारक-साकल्य को भी प्रमा का कारण मानते हैं[८]। जो साधकतम होता है वह करण है और अर्थ का व्याभिचाररहित ज्ञान कराने में जो करण है, वह प्रमाण है। उनकी मान्यता है कि ज्ञान किसी एक कारक से नहीं होता अपितु समग्र कारकों के होने पर नियम से होता है। इसलिए कारक-साकल्य ही ज्ञान की उत्पत्ति में करण है, अत: वही प्रमाण है।

सांख्य अर्थ की प्रमिति में इन्द्रिय-वृत्ति को साधकतम मानते हुए उसे ही प्रमाण मानता है। इन्द्रियाँ जब विषय के आकार परिणमन करती हैं तभी वे अपने प्रतिनियत शब्द आदि का ज्ञान कराती हैं। इंद्रियों की विषयाकार-परिणित वृत्ति ही प्रमाण है।

मीमांसक ज्ञातृव्यापार को प्रमाण मानते हैं। उनका मानना है कि ज्ञातृव्यापर के बिना पदार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। कारक तभी कारक कहा जाता है, जब उसमें क्रिया होती है। इसलिए क्रिया से युक्त द्रव्य को कारक कहा गया है, जैसे-रसोई पकाने के लिए चावल, पानी, आग आदि अनेक कारक जो पहले से तैयार होते हैं, उनके मेल से रसोई होती है, उसी प्रकार आत्मा, मन, इन्द्रिय और पदार्थ इन चारों का मेल होने पर ज्ञाता का व्यापार होता है, जो पदार्थ के ज्ञान में साधकतम कारण है। अत: ज्ञातृव्यापार ही प्रमाण है।

बौद्धों के अनुसार प्रमाण का लक्षण है--अर्थसारूप्य। वे मानते हैं कि अर्थ के साथ ज्ञान का जो सादृश्य होता है, वही प्रमाण है। उनके सारूप्य लक्षण प्रमाण का तात्पर्य है कि बुद्धि प्रमाण है, इन्द्रियाँ नहीं, क्योंकि हेय या उपादेय वस्तु के त्याग या ग्रहण करने का अतिशय साधन ज्ञान ही है अत: वही प्रमाण है। इस प्रकार बौद्ध ज्ञान को प्रमाण मानते हैं किन्तु उनके अनुसार ज्ञान के दो भेद हैं--निर्विकल्पक और सविकल्पक। बौद्ध मत में प्रत्यक्षरूप ज्ञान निर्विकल्पक होता है और अनुमानरूप ज्ञान सविकल्पक। ये दो ही प्रमाण बौद्ध मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार विषय भी दो प्रकार का होता है- (१) स्वलक्षणरूप एवं (२) सामान्यलक्षणरूप। स्वलक्षण का अर्थ है वस्तु का स्वरूप जो शब्द आदि के बिना ही ग्रहण किया जाता है। सामान्यलक्षण का अर्थ है--अनेक वस्तुओं के साथ गृहीत वस्तु का सामान्य रूप जिसमें शब्द का प्रयोग होता है। स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्यलक्षण अनुमान का। जो कल्पना से रहित निर्भ्रान्त ज्ञान होता है, उसे बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष कहा गया है[९]।

जैन दार्शनिकों ने प्रमाण के संबंध में उक्त मतों को अस्वीकार किया है। जैनों के अनुसार नैयायिकों द्वारा मान्य सन्निकर्षादि को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि उक्त सन्निकर्षादि (जड़) अज्ञानरूप हैं और अज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति रूप प्रमा संभव नहीं है। अज्ञान निवृत्ति में अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही कारण हो सकता है, जिस प्रकार अंधकार की निवृत्ति में अंधकार का विरोधी प्रकाश। इन्द्रियसन्निकर्षादि ज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् कारण हो सकते हैं पर प्रमा में साधकतम तो ज्ञान ही हो सकता है। दूसरे, जिसके होने पर ज्ञान हो और नहीं होने पर न हो, वह उसमें साधकतम माना जाता है। जबकि सन्निकर्ष में ऐसी बात नहीं है। कहीं-कहीं सन्निकर्ष के होने पर भी ज्ञान नहीं होता, जैसे घट की तरह आकाश आदि के साथ भी चक्षु का संयोग रहता है, फिर भी आकाश का ज्ञान नहीं होता। एक ज्ञान ही है जो बिना किसी व्यवधान के अपने विषय का बोध कराता है। अत: वही प्रमिति में साधकतम है और इसलिए वही प्रमाण है, सन्निकर्षादि नहीं। तीसरे, यदि सन्निकर्षादि को प्रमाण माना जाए तो सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों के साथ इन्द्रियों का संबंध न होने से उनके द्वारा उन पदार्थों का ज्ञान असंभव है, फलत: सर्वज्ञता का अभाव हो जाएगा[१०]। इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ अल्प - केवल स्थूल, वर्तमान और आसन्न विषयक हैं और ज्ञेय सूक्ष्म अपरिमिति है। ऐसी स्थिति में इंद्रियों और सन्निकर्ष से समस्त ज्ञेयों का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। चक्षु और मन ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों अप्राप्यकारी होने के कारण सभी इंद्रियों का पदार्थों के साथ सन्निकर्ष भी संभव नहीं। चक्षु स्पृष्ट का ग्रहण न करने और योग्य दूर स्थित अस्पृष्ट का ग्रहण करने से अप्राप्यकारी है। यदि चक्षु प्राप्यकारी हो तो उसे स्वयं में लगे अंजन को भी देख लेना चाहिए[११]। अतः सन्निकर्ष और इंद्रियादि प्रमाण नहीं हो सकते। उसी प्रकार कारक-साकल्य को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। कारक - साकल्य को प्रमाण मानने पर प्रश्न उठता है कि कारक-साकल्य मुख्य रूप से प्रमाण है या उपचार से। वह मुख्य रूप से प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि कारक-साकल्य अज्ञान रूप है और जो अज्ञान रूप है, वह स्व और पर की प्रमिति में मुख्य रूपेण साधकतम नहीं हो सकता। प्रमिति में मुख्य साधकतम तो अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही हो सकता है। क्योंकि ज्ञान और प्रमिति के बीच में किसी दूसरे का व्यवधान नहीं है। ज्ञान के होते ही पदार्थ की प्रमिति हो जाती है। किन्तु कारक - साकल्य में यह बात नहीं है। कारक - साकल्य ज्ञान को उत्पन्न करता है, तब पदार्थ की प्रमिति या जानकारी होती है। अतः कारक - साकल्य और प्रमिति के बीच में ज्ञान का व्यवधान होने से कारक - साकल्य को मुख्य रूप से प्रमाण नहीं माना जा सकता[१२]।

सांख्यों की इन्द्रियवृत्ति को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन्द्रियवृत्ति अचेतन है और जो अचेतन है, वह पदार्थ के ज्ञान में साधकतम नहीं हो सकता। इन्द्रियवृत्ति क्या है? इन्द्रियों का पदार्थ के पास जाना, पदार्थ की ओर अभिमुख होना अथवा पदार्थों के आकार का हो जाना। प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ पदार्थ के पास नहीं जातीं अन्यथा दूर से ही किसी पदार्थ के ज्ञान की उपपत्ति नहीं हो जाएगी। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों का पदार्थ की ओर अभिमुख होना ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होने से उपचार से प्रमाण हो सकता है, वास्तव में तो प्रमाण ज्ञान ही है। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों का पदार्थ के आकार का होना प्रतीतिविरुद्ध है। जैसे दर्पण पदार्थ के आकार को अपने में धारण करता है, वैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियाँपदार्थ के आकार को धारण करते नहीं देखी जातीं। फिर भी यदि इन्द्रियवृत्ति होती है ऐसा मान भी लिया जाए तो प्रश्न उठता है कि वृत्ति इन्द्रिय से भिन्न है या अभिन्न। यदि अभिन्न है तो उसे इन्द्रिय ही कहा जाना चाहिए, क्योंकि तब इन्द्रिय और उनकी वृत्ति एक ही हुई। परंतु निद्रावस्था में यदि इन्द्रिय और उसके व्यापार या वृत्ति की अभिन्नता मानी जाए तो सुप्त और जाग्रत् अवस्था में कोई अंतर नहीं रहेगा। यदि वृत्ति को इन्द्रिय से भिन्न मानें तो इन्द्रिय वृत्ति की ही उपपत्ति नहीं हो पाती तो फिर उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है।

बौद्धों के निर्विकल्पक ज्ञान को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानने पर विकल्प के आधार पर जाने वाले लोक - व्यवहार आदि संभव नहीं हो सकेंगे। यदि बौद्ध यह कहें कि निर्विकल्पक ज्ञान में सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति है, अतः वह प्रवर्तक है और प्रवर्तक होने से प्रमाण है, तो प्रश्न उठता है कि जो स्वयं निर्विकल्पक है वह विकल्प को कैसे उत्पन्न कर सकता है, क्योंकि निर्विकल्पक होने और विकल्प उत्पन्न करने की सामर्थ्य का परस्पर विरोध है[१३]। यदि कहा जाए कि विकल्प वासना की अपेक्षा लेकर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विकल्पक को उत्पन्न कर सकता है, तो विकल्पवासना सापेक्ष अर्थ ही विकल्प को उत्पन्न कर देगा, दोनों के बीच में एक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की आवश्यकता ही क्या है[१४] और यदि निर्विकल्पक, विकल्प को उत्पन्न नहीं करता तो बौद्धों का यह कथन कि--

"यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता"

अर्थात्, जिस विषय में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सविकल्पक बुद्धि को उत्पन्न कर सकता है, उसी विषय में वह प्रमाण है, उनकी ही मान्यता के विरोध में आता है। फिर भी यदि सविकल्पक बुद्धि को उत्पन्न करने पर ही निर्विकल्पक का प्रामाण्य अभीष्ट है तो सविकल्पक को ही बौद्ध प्रमाण क्यों नहीं मान लेते, क्योंकि वह संवाहक है, अर्थ की प्राप्ति में साधकतम है और अनिश्चित अर्थ का निश्चायक है। अतः निर्विकल्पक ज्ञान को भी सन्निकर्ष की तरह प्रमाण नहीं माना जा सकता[१५]।

उसी प्रकार मीमांसकों के ज्ञातृव्यापार को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि ज्ञातृव्यापार की सत्ता प्रत्यक्ष अनुमानादि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती। फिर भी यदि ज्ञातृव्यापार का अस्तित्व मानें तो प्रश्न उठता है कि वह कारकों से जन्य है या अजन्य। अजन्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह एक व्यापार है। व्यापार तो कारकों से ही जन्य हुआ करता है। यदि जन्य है तो वह भावरूप है या अभावरूप। अभावरूप हो नहीं सकता, क्योंकि यदि अभावरूप ज्ञातृव्यापार से भी पदार्थों का बोध हो जाता है तो उसके लिए कारकों की खोज करना ही व्यर्थ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनः ज्ञातृरूप व्यापार, ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप। यदि वह ज्ञानरूप है तो अत्यंत परोक्ष नहीं हो सकता जैसा कि मीमांसक मानते हैं और यदि ज्ञातृरूप व्यापार अज्ञानरूप है, तो वह घट-पट की तरह प्रमाण नहीं हो सकता।

उपर्युक्त सभी समस्याओं के समाधान हेतु जैन दार्शनिक ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं। 'प्रमीयतेऽर्थास्तैरिति प्रमाणानि'[१६] अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों को भली प्रकार से जाना जाए, वह प्रमाण है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर आचार्य उमास्वाति ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा है। उन्होंने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल इन पाँच ज्ञानों को सम्यक् ज्ञान कहकर उन्हें स्पष्टतया प्रमाण प्रतिपादित किया है। उमास्वाति के परवर्ती आचार्य समन्तभद्र[१७] (ई. सन् ५७५-६२५) ने अपने प्रमाण की परिभाषा में उमास्वाति का ही आधार ग्रहण करते हुए तत्त्वज्ञान को प्रमाण माना है। प्रमाण को उन्होंने दो भागों में विभक्त किया है--(१) युगपत्सर्वभासी (२) क्रमभासी जो स्याद्वाद नय से सुसंस्कृत होता है। यदि ध्यान दिया जाए तो उमास्वाति और समन्तभद्र के प्रमाण लक्षणों में शब्दभेद को छोड़कर कोई मौलिक अर्थभेद प्रतीत नहीं होता क्योंकि सम्यक्त्व और तत्त्व का एक ही अर्थ है सत्य - यथार्थ । आचार्य समन्तभद्र ने तत्त्वज्ञान को अन्यत्र 'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुविबुद्धिलक्षणम्' कहकर स्वपरावभासक ज्ञान के रूप में उपन्यस्त किया है। वस्तुतः स्वपरावभासक ज्ञान का अभिप्राय भी सम्यग्ज्ञान ही है, क्योंकि ज्ञान का सामान्य धर्म ही है अपने स्वरूप को जानते हुए परपदार्थ को जानना। समन्तभद्र की इस परिभाषा में न्यायावतारकर्ता (न्यायवतार के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर नहीं हैं)[१८] ने बाधविवर्जित पद जोड़कर 'प्रमाणं स्वपरभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्[१९]' कहा। किन्तु बाधविवर्जित पद विशेषण से जिस अर्थ की उत्पत्ति होती है, उसका संकेत आचार्य उमास्वाति ने सम्यग्ज्ञान में प्रयुक्त 'सम्यक्शब्द' के द्वारा ही कर दिया था। उमा स्वाति के सम्यग्ज्ञान प्रमाण की उपर्युक्त परिभाषा को ही आधार मानकर सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद, [२०] भट्टअकलंक [२१] (७वीं शती), विद्यानन्दि (वि. १०वीं शती), माणिक्यनंदी [२२] (वि. १०वीं शती), हेमचन्द्र तथा अनंतवीर्य आदि परवर्ती आचार्यों ने भी अपनी प्रमाण संबंधी परिभाषाएँ दीं।

प्रमाण के प्रकार

प्राचीनकाल से ही प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्विवाद रूप से चले आ रहे हैं। यदि हम प्रमाण भेद की चर्चा को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखें तो आगमिक साहित्य में स्थानांग[२३] और भगवतीसूत्र[२४] में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो प्रमाणों का उल्लेख मिलता है, जिनमें इन दो मुख्य प्रमाणों के अंतर्गत ही पञ्चज्ञानों की योजना की गई है, परंतु साथ ही इनमें चार प्रमाणों का भी उल्लेख मिलता है[२५]। इसमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमाणों के ये दो भेद इन दोनों ग्रन्थों में निर्युक्तिकार भद्रबाहु के बाद ही दाखिल हुए होंगे, क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति जो भद्रबाहुकृत मानी जाती है और जिसका आरंभ ही ज्ञान-चर्चा से होता है, उसमें मति, श्रुत आदि विभाग से ज्ञानचर्चा तो है परंतु प्रत्यक्षादि प्रमाणभेद की चर्चा का सूचन तक नहीं होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्युक्ति के समय तक जैनाचार्य ज्ञानचर्चा करते थे तो पञ्चज्ञान के ही रूप में, किन्तु अन्यदर्शनों में प्रतिष्ठित प्रमाण चर्चा से पूर्णतः अनभिज्ञ भी नहीं थे। इसका प्रमाण हमें उसी भद्रबाहुकृत दशवैकालिकनिर्युक्ति[२६] में मिल जाता है जिसमें परार्थानुमान की चर्चा की गई है, यद्यपि वह अवयवांश में अन्य दर्शनों की परार्थानुमान शैली से अनोखी है।

संभवतः सबसे पहले अनुयोगद्वार[२७] में न्यायसम्मत प्रत्यक्ष, अनुमानादि चार प्रमाणों को दाखिल किया गया। इससे पूर्व तो जैनाचार्यों की मुख्य विचार-दिशा प्रमाणद्वय विभाग की ओर ही रही है। इसी परंपरा के अनुसार आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य[२८] में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो प्रमाणों की ही चर्चा की है और प्रमाणचतुष्टय बिभाग जो मूलतः न्यायदर्शन[२९] का है, को 'नयवादान्तरेण[३०] कहकर प्रमाणद्वय विभाग को ही जैन परंपरा सम्मत माना है। उन्होंने इन दो प्रमाणों में ही दर्शनान्तरीय अन्य प्रमाणों को भी अन्तर्भूत माना है।

भारतीय दर्शन के अन्य दार्शनिक निकायों में चार्वाक एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों को मानता है। नैयायिक सांख्य के तीन भेदों में उपमान को जोड़कर चार भेद स्वीकार करते हैं। मीमांसकों में प्रभाकरानुयायी चार भेदों में अर्थापत्ति को जोड़कर पाँच एवं कुमारिल भट्टानुयायी और वेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये छह प्रमाण मानते हैं[३१]। पौराणिक लोग सम्भव और एतिह्य को मिलाकर आठ एवं तांत्रिक इसमें चेष्टा नामक एक प्रमाण जोड़कर नौ प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उमास्वाति ने इन सारे प्रमाणों का अन्तर्भाव जैन दर्शन के प्रत्यक्ष व परोक्ष इन दो प्रमाणों में ही माना है[३२]।

परोक्ष - आचार्य उमास्वाति ने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल इन पाँच ज्ञानों में 'आद्ये परोक्षम्'[३३] कहकर आदि के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण माना है। इनको परोक्ष प्रमाण क्यों कहते हैं? इसके उत्तर में उनका कहना है कि ये दोनों ही ज्ञान निमित्त की अपेक्षा रखते हैं, इसलिए ये परोक्ष हैं। परोक्ष ज्ञान में इन्द्रिय और मन इन दोनों को निमित्त माना गया है।

प्रत्यक्ष - प्रत्यक्षशब्द की व्युत्पत्ति दो शब्दों से मिलकर हुई है - प्रति + अक्ष = प्रत्यक्ष। अक्ष शब्द की व्युत्पत्ति अश् धातु से होती है जिसका अर्थ व्याप्त होना है।

इस प्रकार 'अश्नुते व्याप्नोति विष यान् स्ववृत्त्या संयोगेन वा अक्ष स' पद प्राप्त होता है जिसका अर्थ है जो ज्ञान रूप से सभी वस्तुओं में व्याप्त या विद्यमान होता है अर्थात् जीव।

अश् धातु से भी अक्ष शब्द की उत्पत्ति संभव है। अश् का अर्थ है भोजन करना। चूँकि जीव सभी पदार्थों का भोक्ता है, इसलिए व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार भी अक्ष का अर्थ आत्मा ही हुआ।

अक्ष शब्द का अर्थ इन्द्रिय भी किया जाता है। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष की जो परिभाषा दी गई है, उसमें प्रयुक्त अक्ष शब्द इन्द्रिय अर्थ का ही द्योतक है- 'अक्षस्याऽक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्[३४]।' यहां अक्ष शब्द का अर्थ इन्द्रिय और वृत्ति का अर्थ है सन्निकर्ष अर्थात् इन्द्रिय का अर्थ के साथ संबंध होने पर उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है, ऐसा न्यायदर्शन[३५] का मत है।

जैन परंपरा[३६] अक्ष शब्द का अर्थ जीव या आत्मा करती है और तदनुसार इन्द्रिय निरपेक्ष और केवल आत्मपरोक्ष ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानती है और इंद्रियाश्रित ज्ञान को परोक्ष। कहीं-कहीं अक्ष शब्द का इन्द्रिय अर्थ लेकर भी व्युत्पत्ति का आश्रयण किया गया है, पर वह दर्शनान्तर प्रसिद्ध परंपरा तथा लोक व्यवहार के संग्रह की दृष्टि से। पूज्यपाद अक्ष शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानतीत्यक्ष आत्मा'[३७]। अक्ष, व्याप् और ज्ञा ये धातुएँ एकार्थक हैं, इसलिए अक्ष का अर्थ आत्मा होता है और 'तमेवप्राप्तवृक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं वा प्रत्यक्षम्[३८]' अर्थात् क्षमोपशम वाले या आवरण रहित केवल आत्मा के प्रति जो नियत है या जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादि की अपेक्षा न होकर केवल क्षयोपशमवाले य। आवरणरहित आत्मा से होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। 'अक्षं प्रतिनियतिमिति परापेक्षा निवृत्तिः' अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान में पर की अपेक्षा नहीं होती।

आचार्य उमास्वाति ने इसी आधार पर आत्मसापेक्ष और इन्द्रियादि की अपेक्षा के बिना होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य में उन्होंने इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा है और मतिज्ञान और श्रुत ज्ञान को छोड़कर अवधि, मनःपर्याय और केवल को प्रत्यक्ष कहा है[३९]। बाद के सभी जैनाचार्यों ने उमास्वाति की इसी परिभाषा को आधार बनाकर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण का विवेचन किया है।

न्यायवतारकर्ता ने अपरोक्ष रूप से ग्रहण किए जाने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है

अपरोक्षतयाऽर्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितिरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया।[४०]

परोक्ष क्या है, असाक्षादर्थग्राहकं ज्ञानं परोक्षमिति[४१] अर्थात् असाक्षात् अर्थ का ग्राहक परोक्ष है, एवं जो अपरोक्ष अर्थात् साक्षात् अर्थ का ग्राहक है वह प्रत्यक्ष है।

भट्ट अकलंक के अनुसार 'इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना जो व्यभिचार रहित साकार ग्रहण होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं'[४२], न्यायविनिश्चय में उन्होंने 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा'[४३] कहकर प्रत्यक्ष को परिभाषित किया है, अर्थात् जो ज्ञान स्पष्ट है वही प्रत्यक्ष है। इस परिभाषा में उपर्युक्त परिभाषा में आए साकार पद के साथ अञ्जसा पद भी आया है। साकार का अर्थ है सविकल्पकंज्ञान क्योंकि निर्विकल्पकज्ञान को जैन दर्शन में प्रमाण नहीं माना गया है। अञ्जसा पद पारमार्थिक दृष्टि का सूचक है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि वह परमार्थ में भी विशद हो। वैशद्य का लक्षण करते हुए लघीयस्त्रय में उन्होंने कहा है कि--

अनुमानाद्यति रेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्।।[४४]

अर्थात् अनुमानादि से अधिक नियत देश, काल और आकार रूप में प्रचुरतर विशेषों के प्रतिभासन को वैशद्य कहते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। दूसरे शब्दों में जिस ज्ञान में किसी अन्य ज्ञान की सहायता अपेक्षित न हो वह ज्ञान विशद कहलाता है। अनुमान में लिंगादि की आवश्यकता पड़ती है, परंतु प्रत्यक्ष में किसी अन्यज्ञान की आवश्यकता नहीं होती।

अवधेय है कि बौद्ध दार्शनिक भी विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं[४५] परंतु वे केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष की सीमा में रखते हैं[४६]। प्रत्यक्ष की उनकी परिभाषा है 'कल्पनापोढम् भ्रान्तं प्रत्यक्षम्' अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान को कल्पना स्वभाव, और किसी भी प्रकार के विपर्यय या भ्रांति से रहित होना चाहिए। जैनदार्शनिक परंपरा को बौद्धों का उक्त निर्विकल्पक या कल्पनापोढ प्रत्यक्ष लक्षण मान्य नहीं है। भट्ट अकलंक, विद्यानन्दी, प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्राचार्य तथा अभिनवभूषण ने बौद्धों के उक्त प्रत्यक्ष का खण्डन किया है। कल्पनापोढ अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष यदि सर्वथा कल्पनापोढ है तो प्रमाण ज्ञान है, प्रत्यक्ष कल्पनापोढ है, इत्यादि कल्पनाएँ भी उसमें नहीं की जा सकेंगी और इस प्रकार उसके अस्तित्व आदि की कल्पना भी नहीं की जा सकेगी। उसका 'अस्ति' इस प्रकार से भी सद्भाव सिद्ध नहीं होगा, एवं यदि उसमें इन कल्पनाओं का सद्भाव माना जाता है तो वह स्ववचन-व्याघात है।

अतः जैन दार्शनिक सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानकर विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष की कोटि में रखते हैं। विशदता और निश्चयता विकल्प का अपना धर्म है और वह ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार इसमें पाया जाता है। अतः जिन विकल्प ज्ञानों का विषयभूत पदार्थ बाह्य में नहीं मिलता वे विकल्पाभास हैं, प्रत्यक्ष नहीं। मणिक्यनन्दी[४७], वादिदेवसूरि[४८] तथा हेमचन्द्र[४९] ने प्रत्यक्ष को क्रमशः निम्नप्रकार से परिभाषित किया है--

(क) विशदं प्रत्यक्षमिति

(ख) स्पष्टं प्रत्यक्षं

(ग) विशदः प्रत्यक्षं

माणिक्यनन्दी विशद की व्याख्या करते हुए कहते हैं--

'प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषणतया या प्रतिभासनं वैशद्यमिति' अर्थात् वह ज्ञान जो अन्यजन के व्यवधान से रहित होता है तथा जो विशेषणों के साथ प्रतिभासित होता है, उसे वैशद्य कहते हैं। हेमचन्द्रचार्य के अनुसार जिसका प्रतिभासन बिना किसी अन्य प्रमाण के होता है, या यह इदन्तया प्रतिभासित होता है उसे वैशद्य कहते हैं[५०]। 'प्रमाणान्तरान्पेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्' अर्थात् प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होने का कथन माणिक्यनन्दी एवं प्रभाचन्द्र का अनुसरण प्रतीत होता है, किन्तु इदन्तया प्रतिभास प्रत्यक्ष में ही होता है, अनुमानादि में नहीं अतः विशदता की यह नई विशेषता कही जा सकती है। प्रश्न उठता है कि जैन दर्शन में इन्द्रिय व्यापार से जनित ज्ञान को अन्य भारतीय दार्शनिकों की भांति प्रत्यक्ष एवं व्यापार से रहित ज्ञान को परोक्ष क्यों नहीं कहा गया? पूज्यपाद ने जैन ज्ञान मीमांसा के आधार पर इसका समाधान प्रस्तुत किया है। जैन दर्शन में सर्वज्ञ आप्तपुरुष प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों को जानता है। यदि सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष इन्द्रिय के निमित्त से हो तो सर्वज्ञ समस्त पदार्थों को प्रत्यक्षपूर्वक नहीं जान सकेगा, अर्थात् उसकी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकेगी, किन्तु आप्तपुरुष सर्वज्ञ है तथा वह समस्त पदार्थों का प्रतिक्षण प्रत्यक्ष करता है। उसकी यह प्रत्यक्षता तभी सिद्ध हो सकती है, जब वह मात्र आत्मा द्वारा समस्त अर्थों को जानता हो। पूज्यपाद के समाधान को अकलंक ने भी विस्तृतरूपेण प्रस्तुत कर पुष्ट किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन्द्रियादि के बिना आत्मा को बाह्यार्थों का प्रत्यक्ष किस प्रकार होता है? अकलङ्क ने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रथ का निर्माता तपोविशेष के प्रभाव से ऋद्धिविशेष प्राप्त करके बाह्य उपकरणादि के बिना भी रथ का निर्माण करने में सक्षम होता है, उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष अथवा सम्पूर्णक्षय से इंद्रियादि बाह्यसाधनों के बिना ही बाह्यार्थों को जानने में सक्षम होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है आगमिक परंपरा के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण आत्माश्रित है तथा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से बाह्यार्थों का ज्ञान होता है, इसमें इन्द्रियादि के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण का मुख्य लक्षण 'आत्मसापेक्ष एवं विशद या स्पष्ट ज्ञान' ही जैन परंपरा में मान्य है।

प्रत्यक्ष के प्रकार--

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में उमास्वाति ने प्रत्यक्ष प्रमाण में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवधि, मनःपर्याय एवं केवल इन तीनों ज्ञानों का ही समावेश किया है और इन्हीं की व्याख्या प्रत्यक्ष के रूप में की है। 'अक्ष' शब्द का अर्थ आत्मा मान लेने पर एवं तदनुसार केवल आत्म -सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मान लेने पर लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष रूप से प्रसिद्ध इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मानस - प्रत्यक्ष की समस्या के समन्वय हेतु उमास्वाति के उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक-प्रत्यक्ष एवं पारमार्थिक-प्रत्यक्ष ये दो भेद किए। इन दोनों भेदों का कोई सूचन तत्त्वार्थाधिगमसूत्र या भाष्य में नहीं मिलता। उमास्वाति ने स्पष्ट रूप से इन्द्रियादि निमित्त से होने वाले ज्ञान को परोक्ष की संज्ञा दी है, प्रत्यक्ष की नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के आचार्यों ने कमोबेश नैयायिकों से प्रभावित होकर अपनी प्रमाणमीमांसा में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का समावेश किया और उमास्वाति के बताए अवधि, मनःपर्याय एवं केवल को पारमार्थिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी। अतः हम प्रथमतया अवधि, मनःपर्यय की और केवल की ही विवेचना करेंगे एवं यथास्थान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की भी संक्षिप्त व्याख्या करेंगे।

(१) अवधिज्ञान

अवधि का अर्थ है - सीमा या मर्यादा, अर्थात् वह मर्यादित ज्ञान जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल रूपी पदार्थों को स्पष्ट रूप से जानता है, अवधिज्ञान है। यह ज्ञान अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है।

अवधिज्ञान दो प्रकार का हैं[५१]- (१) भवप्रत्यय (२) गुण प्रत्यय (क्षयोपशमनिमित्तिक)

(१) भवप्रत्यय - नारक और देवों को जो अवधिज्ञान होता है, उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं[५२]। भव कहते हैं--आयुनाम कर्म के उदय का निमित्त पाकर होने वाली जीव की पर्यायों को और प्रत्यय शब्द का अर्थ है - हेतु अथवा निमित्त कारण। अतः भव ही जिसमें निमित्त हो, वह भवप्रत्यय है। नारक और देवों के अवधिज्ञान में उस भव में उत्पन्न होना ही कारण माना गया है। जैसे पक्षियों का आकाश में गमन करना स्वभाव से या उस भव में जन्म लेने मात्र से ही आ जाता है, उसके लिए शिक्षा या तप कारण नहीं है, उसी प्रकार जो जीव नरकगति या देवगति को प्राप्त होते हैं, उन्हें अवधिज्ञान भी स्वतः ही प्राप्त हो जाता है[५३]। उमास्वाति ने जो यथायोग्य [५४] शब्द का निर्देश किया है उसका तात्पर्य है कि सभी देव अथवा नारकियों का अवधिज्ञान समान नहीं होता। जिसमें जितनी योग्यता है उसके अनुसार उन्हें उतना ही होता है[५५]। अवधेय है कि तीर्थंकरों को जन्म से अवधि ज्ञान होने पर भी उनके अवधिज्ञान को भवप्रत्यय नहीं मानते, क्योंकि उक्त अवधि में तीर्थंकर की आत्मा के गुण कारणभूत हैं।

प्रश्न उठता है कि देवों तथा नारकों को उस भव में जन्मग्रहण करने मात्र से अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है, उन्हें नियमादि पालन करने की आवश्यकता नहीं होती, तो मनुष्यादि को इसके लिए प्रयास क्यों करना पड़ता है?

वस्तुतः क्षयोपशम तो सभी के लिए आवश्यक है। अंतर साधन में है। जो जीव केवल जन्म मात्र से क्षयोपशम कर सकते हैं, उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय है एवं जिन्हें इसके लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है, उनका अवधिज्ञान क्षयोपशम निमित्तक या गुणप्रत्यय है। उमास्वाति 'देवनारकाणाम्' पद से सम्यग्दृष्टियों का ग्रहण करते हैं, क्योंकि सूत्र में अवधिपद का ग्रहण है। मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान विभंगज्ञान कहलाता है। अतः उमास्वाति यह मानते हैं कि देव व नारकियों में भी उन्हीं को भव के प्रथम समय में अवधिज्ञान होता है, जो सम्यग्दृष्टि होते हैं। मिथ्यादृष्टियों को विभंगज्ञान होता है[५६]।

(२) गुण प्रत्यय (क्षयोपशमनिमित्तक)- क्षयोपशमनिमित्तक ज्ञान शेष दो गतिवाले जीव तिर्यञ्च और मनुष्य को होता है[५७]। अवधिज्ञानावरण कर्म के देशघाती स्पर्धकों का उदय रहते हुए सर्वघाती स्पर्धकों का उदयभावी क्षय और अनुदय प्राप्त इन्हीं के सद्वस्थारूप उपशम इन दोनों के निमित्त से जो होता है वह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान है[५८]। तिर्यञ्च और मनुष्य को होने वाला यह गुण प्रत्यय अवधिज्ञान सबको नहीं होता, उनमें भी जिनको सामर्थ्य है उन्हीं को होता है। असंज्ञी और अपर्याप्तकों को यह सामर्थ्य नहीं है। संज्ञी और पर्याप्तकों में भी सबको यह सामर्थ्य नहीं होती केवल उनको, जिनके सम्यग्दर्शनादि निमित्तों के मिलने पर अवधिज्ञानावरण कर्म शांत एवं क्षीण हो गया हो[५९]। क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकार का होता है-

(१) अनानुगामी (२) आनुगामी (३) हीयमानक (४) वर्धमानक (५) अनवस्थित और (६) अवस्थित। आचार्य उमास्वाति ने इन छह ज्ञानों को इसी क्रम में रखा है। पूज्यपाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं भट्टअकलंक ने क्रमशः सर्वार्थसिद्धि[61] और तत्त्वार्थवार्तिक[62] में इसे भिन्न क्रम में रखा है यथा - अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित एवं अनवस्थित।

(१) **अनानुगामी**[63]- जो अवधिज्ञान केवल अपने उत्पत्ति स्थल में ही योग्य विषयों को जानता है-अनानुगामी अवधिज्ञान है। जैसे किसी ज्योतिषी या निमित्तज्ञानी आदि के विषय में देखा जाता है कि वह एक निश्चित स्थान पर ही प्रश्नों का उत्तर दे सकता है सर्वत्र नहीं। उसी प्रकार अनानुगामी अवधिज्ञान जिस स्थान पर उत्पन्न होता है उससे अन्यत्र वह काम नहीं कर पाता।

(२) **आनुगामी**[64]- जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्ति-स्थल और स्थानान्तर दोनों ही जगह अपने योग्य विषयों को जानता है, वह आनुगामी अवधिज्ञान है। जैसे सूर्य पूर्व दिशा के साथ-साथ अन्य दिशाओं को भी प्रकाशित करता है।

(३) **हीयमानक**[65] - असंख्यात द्वीप समुद्र, पृथ्वी, विमान और तिर्यक, ऊपर अथवा नीचे जितने क्षेत्र का प्रमाण लेकर उत्पन्न हुआ है, क्रम से उस प्रमाण से घटते-घटते जो अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण तक के क्षेत्र को विषय करने वाला रह जाए तो उसे हीयमानक अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाने पर भी यदि उससे योग्य ईंधन आदि न मिले तो धीरे-धीरे बुझने या कम होने लगती है।

(४) **वर्धमानक**[66] - जो अवधिज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भाग आदि के बराबर प्रमाण लेकर उत्पन्न हुआ हो और उस प्रमाण से बढ़ता ही चला जाए तो उसे वर्धमानक अवधिज्ञान कहते हैं।

(५) **अनवस्थित**[67]- जो अवधिज्ञान एक रूप न रहकर अनेक रूप धारण करे वह अनवस्थित अवधिज्ञान है। यह अवधिज्ञान उत्पन्न प्रमाण से कभी घटता है, कभी बढ़ता है और कभी छूट भी जाता है। जैसे किसी जलाशय की लहरें वायुवेग का निमित्त पाकर कभी ऊँची-नीची या नष्टोत्पन्न हुआ करती हैं उसी प्रकार शुभ अथवा अशुभरूप जैसे भी परिणामों का इसको निमित्त मिलता है उसके अनुसार इस अवधिज्ञान की हानि, वृद्धि आदि अनेक अवस्थाएँ हुआ करती हैं।

(६) **अवस्थित**[68] - वह अवधिज्ञान जो जितने प्रमाण क्षेत्र के विषय में उत्पन्न हो, उससे वह तब तक नहीं छूटता जब तक कि केवल ज्ञान की प्राप्ति न हो जाए या उसका वर्तमान मनुष्यजन्म छूटकर उसे भवान्तर की प्राप्ति न हो जाए, अवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है। अर्थात् जिसे अवस्थित अवधिज्ञान होता है, उससे वह तब तक नहीं छूटता जब तक कि उसको केवलज्ञानादि की प्राप्ति न हो जाए क्योंकि केवल ज्ञान क्षायिक है, उसके साथ[71] क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकता। यदि उसी जन्म में केवल ज्ञान हो, तो वह जन्मान्तर में भी उस जीव के साथ ही जाता है।

गोम्मटसार में अवधिज्ञान के सामान्य से तीन भेद किए गए हैं-देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। भवप्रत्यय-अवधि नियम से देशावधि ही होता है तथा परमावधि एवं सर्वावधि नियम से क्षयोपशमनिमित्तक या गुणप्रत्यय ही होते हैं। गोम्मटसार में द्रव, क्षेत्र, काल और भाव को लेकर भी अवधि ज्ञान का विवेचन मिलता है जिसके अनुसार जघन्य भेद से लेकर उत्कृष्ट भेद पर्यन्त अवधिज्ञान के जो असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं वे सब ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा से प्रत्यक्षतया रूपी द्रव्य को ही ग्रहण करते हैं तथा उसके संबंध में संसारी जीव द्रव्य को भी जानते हैं किन्तु सर्वावधिज्ञान में जघन्य उत्कृष्ट आदि भेद नहीं हैं। वह निर्विकल्प एक प्रकार का है। आवश्यकनिर्युक्ति में अवधिज्ञान को क्षेत्र, संस्थान, अवस्थित, तीव्र, मंद इत्यादि चौदह दृष्टकोणों से विवेचित किया गया है। विशेषावश्यकभाष्य[72] में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भव इन सात निक्षेपों के माध्यम से अवधिज्ञान को विश्लेषित किया गया है।

२) मन:पर्यायज्ञान तत्वार्थाधिगम सूत्र भाष्य के अनुसार मन:पर्याय ज्ञान के संबंध में जैन दार्शनिकों में दो मत हैं-प्रथममत नन्दीसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति एवं तत्त्वार्थाधिगम मूल भाष्य पर आधारित है, जिसके अनुसार मनः पर्याय ज्ञान के द्वारा दूसरे के मन में चिंत्यमान अर्थों को जाना जाता है, दूसरा मत विशेषावश्यकभाष्य नन्दीचूर्णि आदि पर आधारित है, जिसके अनुसार मनः पर्याय ज्ञान द्वारा मात्र दूसरे की मन की पर्ययों को जाना जाता है और उसमें चिंत्यमान पदार्थों का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है। जीव के द्वारा ग्रहीत और मन के आकार में परिणत द्रव्यविशेषरूप मनोवर्गणाओं के आलंबन से विचाररूप पर्यायों को बिना इन्द्रियादि साधनों के साक्षात् जान लेना मन:पर्यय ज्ञान है। संपूर्ण प्रमादों से रहित और जिसे मन:पर्याय ज्ञानावरण का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षयोपशम प्राप्त हो चुका है उसे ही यह अत्यंत विशिष्ट क्षायोपशमिक किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है[७३]। जिससे वह मनुष्य लोकवर्ती मन:पर्याप्ति[७४] धारण करने वाले पंचेन्द्रिय प्राणिमात्र के त्रिकालवर्ती मनोगत विचारों को बिना इन्द्रिय और मन की सहायता से ही जान सकता है। आवश्यकनिर्युक्ति[७५] के अनुसार मन:पर्याय ज्ञान का अधिकारी केवल मनुष्य ही होता है और मनुष्यों में भी वह चरित्रवान होता है। नन्दीसूत्र[७६] में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से मन: पर्यायज्ञान का विवेचन करते हुए कहा गया है कि द्रव्यादि की दृष्टि से मन:पर्यायज्ञान के अंतर्गत वे पुद्गल द्रव्य जो मन के रूप में परिवर्तित होते हैं, आते हैं, क्षेत्र की दृष्टि से यह मनुष्यक्षेत्र में पाया जाता है, काल की दृष्टि से यह असंख्यात काल तक स्थित रहता है और भाव की दृष्टि से इनमें मनोवर्गणाओं की अनन्त अवस्थाएं देखी जा सकती हैं। संयम की विशुद्धता मन: पर्यायज्ञान का बहिरंग कारण है और मन:पर्यायज्ञानावरण का क्षयोपशम अंतरंग कारण है। इन दोनों कारणों के मिलने पर उत्पन्न होने वाला ज्ञान इंद्रिय अनिन्द्रिय सहायता के बिना मनुष्य के मनोगत विचारों को जान लेता है।

विषयभेद की अपेक्षा से इस ज्ञान के दो भेद हैं –
(१) ऋजुमति (२) विपुलमति[७७]

ऋजुमति, जीव के द्वारा ग्रहण में आई हुई और मन के आकार में परिणत द्रव्य विशेष रूप मनोवर्गणाओं के अवलंबन से विचार रूप पर्यायों को इंद्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा के बिना ही जानता है। ऋजुमति, ऋजु–सामान्य दो तीन एवं केवल वर्तमान पर्यायों को ही ग्रहण करता है। जबकि विपुलमति मन:पर्याय ज्ञान त्रिकालवर्ती, मनुष्य के द्वारा चिंतित, अचिंतित एवं अर्द्धचिंतित ऐसे तीनों प्रकार की पर्यायों को जान सकता है। ये दोनों ही प्रकार के ज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं हुआ करते जबकि अवधिज्ञान प्रत्यक्ष होकर भी दर्शनपूर्वक होता है।

मन:पर्याय ज्ञान के इन दोनों भेदों में उमास्वाति ने दो विशेषताएँ और बताई हैं--(१) विशुद्धकृत (२) अप्रतिपातकृत

ऋजुमति–मन:पर्यायज्ञान की अपेक्षा विपुलमति पर्यायज्ञान अधिक विशुद्ध हुआ करता है तथा विपुलमति अप्रतिपाती है। क्योंकि ऋजुमति मन:पर्यायज्ञान उत्पन्न होकर छूट भी जाता है, और एक ही बार नहीं अनेक बार उत्पन्न होकर छूट जाता है, परंतु विपुलमति अप्रतिपाती होने से उत्पन्न होने के अनंतर जब तक केवल ज्ञान प्रकट न हो तब तक नहीं छूटता।

अवधिज्ञान और मन: पर्यायज्ञान में अंतर -

उमास्वाति ने इन दोनों ज्ञानों में विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत, स्वामीकृत और विषयकृत इन चार भेदों का उल्लेख किया है--

(१) विशुद्धिकृत - विशुद्धि का अर्थ निर्मलता है। अवधिज्ञान की अपेक्षा मन:पर्यायज्ञान की विशुद्धि या निर्मलता अधिक होती है, क्योंकि वह अपने विषय को अवधिज्ञान से अधिक विशद् रूप में जानता है।

(२) क्षेत्रकृत - दोनों में क्षेत्रकृत विशेषता यह है कि अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर संपूर्ण लोक पर्यंत है। जबकि मन:पर्यायज्ञान का क्षेत्र मनुष्यलोक प्रमाण है, वह उतने क्षेत्र के भीतर ही संज्ञी जीवों की मनोगत पर्यायों को जानता है।

(३) स्वामीकृत - अवधिज्ञान संयमी, साधु, असंयमी जीव तथा संयतासंयत श्रावक इन सभी को हो सकता है तथा चारों ही गति वाले जीवों को हो सकता है, जबकि मन:पर्यायज्ञान प्रमत्त संयत से लेकर क्षीणकषाय–गुणस्थान तक के उत्कृष्ट चारित्र से युक्त जीवों में ही पाया जाता है।

(४) विषयकृत - ज्ञान द्वारा जो पदार्थ जाना जाए उसे ज्ञेय अथवा विषय कहते हैं। विषय की दृष्टि से अवधिज्ञान रूपी द्रव्यों[८२] एवं उसकी असंपूर्ण पर्यायों को जानता है परंतु अवधि के विषय का अनन्तवाँ भाग मन:पर्याय का विषय है[८३] अत: अवधि की अपेक्षा मन:पर्यायज्ञान का विषय अति सूक्ष्म है।

(३) केवलज्ञान केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष ज्ञान है। मोह ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय कर्म के क्षय से यह ज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान का विषय संपूर्ण द्रव्य और उनकी सभी पर्यायें हैं[८४]। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्यों की पृथक्–पृथक् तीनों कालों में होने वाली अनंतानन्त पर्यायें हैं। अत: जो ज्ञान इन सबको जानता है वह केवल ज्ञान है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विशिष्ट तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त सभी पदार्थों को ग्रहण करता है और संपूर्ण लोक–अलोक को विषय करता है। इससे उत्कृष्ट और कोई भी ज्ञान नहीं है और न ही कोई ऐसा ज्ञेय है जो केवलज्ञान का विषय न हो। केवल ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति को कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, अत: उसे सर्वज्ञ कहा जाता है। सर्वज्ञ विश्व के समस्त पदार्थों के तीनों कालों की समस्त पर्यायों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जानता है। इसे केवल, परिपूर्ण, समग्र, असाधारण, निरपेक्ष, विशुद्ध, सर्वभावज्ञापक लोकालोक विषय और अनन्तपर्यायज्ञान भी कहते हैं। यह अपनी तरह का अकेला ज्ञान है इसलिए इसे केवल ज्ञान कहते हैं।

सांव्यवहारिक एवं पारमार्थिक - प्रत्यक्ष-उमास्वामि ने प्रत्यक्ष के अंदर अवधि, मनःपर्याय एवं केवल इन तीन आत्म सापेक्ष एवं इन्द्रिय अनिन्द्रिय की सहायता के बिना होने वाले ज्ञानों को ही लिया है। बाद में जब आगमिक विचार प्रक्रिया में तार्किकता का प्रवेश हुआ तो ऐसा महसूस किया जाने लगा कि लोकव्यवहार में प्रसिद्ध इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष की समस्या के समन्वय हेतु इन्हें भी प्रत्यक्ष में शामिल किया जाना चाहिए। नन्दीसूत्रकार[८५] ने संभवतः सबसे पहले इन दोनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष में शामिल कर प्रत्यक्ष के इंद्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष नामक दो विभाग किए। इसके बाद जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपने अतिविस्तृत भाष्य में द्विविध प्रमाण विभाग में आगमिक पञ्चज्ञान विभाग (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय, केवल) का तर्कपुरःसर समावेश किया और अनुयोगद्वारकर्ता एवं नंदीकार द्वारा स्वीकृत इंद्रियजन्य एवं नोइन्द्रियजन्यरूप से द्विविध प्रत्यक्ष के वर्णन में आने वाले उस विरोध का परिहार सांव्यवहारिक एवं पारमार्थिक प्रत्यक्ष ऐसे दो नाम देकर सर्वप्रथम करने का प्रयास किया जिसे भट्टअकलंक[८६], हेमचन्द्राचार्य[८७] आदि परवर्ती विद्वानों ने भी अपनी प्रमाणमीमांसा में स्थान दिया। इन दोनों प्रत्यक्षों का संक्षिप्त परिचय यहां अप्रासंगिक नहीं होगा।

(१) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष - बाधारहित प्रवृत्ति-निवृत्ति और लोगों का बोलचाल रूप व्यवहार संव्यवहार कहलाता है। इस संव्यवहार के लिए जो प्रत्यक्ष माना जाए वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यह अपरमार्थिक प्रत्यक्ष पाँच इन्द्रियों एवं मन की सहायता से उत्पन्न होता है। यह दो प्रकार का है--

(१) इंद्रियज (२) अनिन्द्रियज[८८]।

चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले को इन्द्रियज और मनोजनित को अनिन्द्रियज कहते हैं। ध्यातव्य है कि इन्द्रियजनित ज्ञान में भी मन का व्यापार होता है तथापि मन वहाँ साधारण कारण एवं इन्द्रिय असाधारण कारण होने से उसे इन्द्रियज या इन्द्रियसांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की सहायता से होने वाले ज्ञान को आचार्य उमास्वाति ने तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्[८९] कहकर इसे मतिज्ञान की श्रेणी में रखा है और इसे प्रत्यक्ष न मानकर परोक्ष ज्ञान कहा है। इन्द्रिय निमित्तक और अनिन्द्रिनिमित्तक ज्ञानरूप मतिज्ञान के ४ भेद[९०] किए गए हैं--(१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय (अपाय) और (४) धारणा।

इन्द्रिय और अर्थ के संबंधित होने पर जो सामान्यज्ञान होता है, जिसमें कोई विशेषण, नाम या विकल्प नहीं होता उसे **अवग्रह** कहते हैं। यह दो प्रकार का है - व्यञ्जना अवग्रह एवं अर्थावग्रह।

ईहा - अवग्रह द्वारा गृहीत ज्ञान को विशेष रूप से जानने की इच्छा ईहा है।

अवाय (अपाय) - ईहा के द्वारा जाने हुए पदार्थ के विषय में निर्णयात्मक ज्ञान अवाय है।

धारणा - अवाय से जिस अर्थ का बोध होता है, उसका अधिक काल तक स्थिर रहना या स्मृतिरूप हो जाना धारणा है[९१]।

(२) पारमार्थिक या मुख्य प्रत्यक्ष - पारमार्थिक प्रत्यक्ष पूर्णरूपेण विशद होता है। जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में मात्र आत्मा के ही व्यापार की अपेक्षा रखता है, मन और इन्द्रियों की सहायता जिसमें अपेक्षित नहीं है, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है[९२]।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं--(१) अवधि, (२) मनः पर्याय और (३) केवल जिसका विवेचन हम पूर्व पृष्ठों में कर चुके हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र में प्रत्यक्षप्रमाण की जो व्याख्या आचार्य उमास्वाति ने की है, उसका मुख्य आधार आगमिक परंपरा-मान्य प्रमाणद्वय ही रहा है, इसीलिए उन्होंने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही भेद किए। प्रत्यक्ष के अंतर्गत उन्होंने सीधे आत्मा से होने वाली अवधि, मनःपर्याय एवं केवल इन तीन ज्ञानों को ही लिया और इन्द्रिय तथा मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष की कोटि में रखा। परवर्ती आचार्यों ने इंद्रिय और मनसापेक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी एवं अवधि, मनःपर्याय और केवल को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा। देखा जाए तो यह इंद्रिय मन-प्रत्यक्ष भी अनुमान के समान परोक्ष ही है, क्योंकि उमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय हो सकते हैं जैसे असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक अनुमान। जैसे शब्द-ज्ञान संकेत की सहायता से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है और अनुमान व्याप्ति के स्मरण से उत्पन्न होता है, अतएव वे परोक्ष हैं उसी प्रकार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन तथा आत्मव्यापार की सहायता से उत्पन्न होता है अतः वह भी परोक्ष ही है। संभवतः उमास्वाति को इन तथ्यों का ज्ञान था इसलिए उन्होंने इंद्रिय और मन के निमित्त से होने वाले ज्ञान को 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्'कहकर उसे परोक्ष की कोटि रखा। भट्ट अकलंक, हेमचन्द्र आदि आचार्य जिन्होंने इंद्रियमनोनिमित्तक प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी उन पर नन्दीसूत्रकार के इन्द्रिय अनिन्द्रिय रूप से किए गए प्रत्यक्ष विभाग तथा नैयायिकों के 'इंद्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'[१३] रूप से की गई प्रत्यक्ष की परिभाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। ऐसा नहीं था कि उमास्वाति नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा से परिचित नहीं थे, क्योंकि नयवादान्तरेण[१४] कहकर तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष के अतिरिक्त अनुमान उपमानादि प्रमाणों को नैयायिकों का कहकर, उन सारे प्रमाणों को इन्हीं दो मुख्य प्रमाणों में अंतर्भूत माना है, पर यह जरूर था कि उनसे वे प्रभावित नहीं थे। फिर उमास्वाति की प्रत्यक्ष की परिभाषा में ऐसा कोई दोष परिलक्षित नहीं होता जिसका परिहार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को मान लेने मात्र से हो गया हो। क्योंकि परवर्ती आचार्य भी अवधि, मनःपर्याय और केवल को पारमार्थिक प्रत्यक्ष तो मानते ही हैं। अतः उमास्वाति द्वारा प्रत्यक्षप्रमाण-विवेचन जो तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य में हुआ है, वह अपने आप में पूर्ण है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

सन्दर्भ

(१) सर्वार्थसिद्धि सम्पा. पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली १९९१, प्रस्तावना पृ. ६२

(२) षट्खण्डागम (धवला टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित)- पुष्पदन्त भूतबलि, जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती, प्रथम आवृत्ति १९५९।

(३) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सम्पा श्री विद्यानंद मनोहरलाल शा., रामचंद्र नथरंगजी गांधी, मांडवी, बंबई १९१८, पृ. ६

(४) पं. जुगलकिशोर मुख्तार, जैन साहित्य और इतिहास पर विशद् प्रकाश, वीरसेवा मंदिर सरसावा, सहारनपुर १९५६, पृ. २०२

(५) सागरमल जैन, तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परंपरा, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी १९९४, पृ. ४

(६) प्रमाणपरीक्षा, सम्पा. दरबारीलाल कोठिया, वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी १९७७, पृ. ९

(अ) प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणं
पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, १/१०, पृ. ७०

(ब) प्रमीयन्तेऽयस्तैरिति प्रमाणानि
उमास्वाति, सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम अगास १९३२, १/१२

(७) न्यायभाष्य, सम्पा. आचार्य ढुंढिराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी वि.सं. २०३९, पृ. १८

(८) न्यायमञ्जरी, जयंत भट्ट, संपा. के.एस. वरदाचार्य, ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, मैसूर १९६९, पृ. १२

(९) न्यायबिन्दु, चौखम्भा सिरीज काशी, पृ. १३

(१०) अर्थसंन्निकर्षे प्रमाणे सति इन्द्रिये वा को दोषः। यदि सन्निकर्षः प्रमाणम्, सूक्ष्मव्यवहितप्रकृष्टानामर्थानाम् ग्रहणप्रसंगः। सर्वार्थसिद्धि, १/१०, पृ. ६९.

(११) सर्वार्थसिद्धि- १/१९

(१२) जैनन्याय, सम्पा. पं.कैलाशचंद्र शास्त्री, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी १९८८, पृ. २७

नोट : संदर्भ १३ से २९ तक अप्राप्त ।

(३०) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र- १/६

(३१) (अ) वैशेषिकसूत्र, सम्पा. आचार्य ढुंढिराज शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी १९७७, ९/२/३

(ब) संख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, सम्पा. रमाशंकर त्रिपाठी, भदैनी, वाराणसी १९७८, कारिका-४

(स) न्यायसूत्र १/१/३

(द) प्रकरणपंचिका-शालिकनाथ संस्कृत सिरीज, वाराणसी, पृ. ४४

(य) शास्त्रदीपिका, सम्पा. पार्थसारथि मिश्र, निर्णयसागर, बंबई, प्रथम संस्करण, १९१५, पृ. २४६

(३२) सर्वाण्येतानिमतिश्रुतयोरन्तर्भूतानीन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमितत्त्वात्। सभाष्यतत्त्वार्थधिगमसूत्र- १/१२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३३) वही, १/११

(३४) न्यायदर्शनम् (वात्स्यायनभाष्य), सम्पा. आचार्य ढुंढिराज शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी वि.सं. २०३९, १/१/३.

(३५) इंद्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञान...प्रत्यक्षम्। न्यायदर्शनम् १/१/४

(३६) (अ) सर्वार्थसिद्धि १/१२

(ब) 'जीवो अक्खो अत्थव्वावणभोयण गुणण्णिओ जेण' विशेषावश्यक भाष्य सम्पा. पं. दलसुख मालवणिया एवं पं. बेचरदास दोसी, ला.द.मा.सं.वि. मंदिर, अहमदाबाद १९६८, पृ. ८९

(स) तथा च भगवान भद्रबाहु जीवो अक्खो तं पई जं वट्टइ तं तु होइपच्चक्खं न्यायावतार टि.पृ. ९५.

(द) अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति वेति अक्ष आत्मा। तत्त्वार्थवार्तिक १/१२

(३७) सर्वार्थसिद्धि- १/१२

(३८) वही १/१२

(३९) सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १/१२

(४०) न्यायावतार-कारिका-४

(४१) न्यायावतारविवृत्ति ४, पृ. ३

(४२) इंद्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्। तत्त्वार्थवार्तिक, सिंधी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, कलकत्ता १९३९, १/१२

(४३) न्यायविनिश्चय, श्लोक-३

(४४) लघीयस्त्रय, सम्पा न्यायकुमुदचंद्र, सिंधी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, कलकत्ता १९३९, ४

(४५) प्रत्यक्षं कल्पनापोढं वेद्यतेऽति परिस्फुटम्। तत्त्वसंग्रह, कमलशीत, सम्पा. द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी प्रथम संस्करण, १९६८, कारिका १२३४.

(४६) तच्च ज्ञानरूपवेदनमात्मनः साक्षात्कारि निर्विकल्पं अभ्रांतं च। ततः प्रत्यक्षं। न्यायबिन्दु, सम्पा. पी.आई. तर्कस, नूतन मुद्रणालय, अकोला १९५२, १/१०

(४७) परीक्षामुख-२-३

(४८) प्रमाण-नय-तत्त्वालोक, अनुवादक पं. शोभाचंद्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ, आत्मजागृति कार्यालय, ब्यावर १९४२, २.२

(४९) प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्राचार्य, सम्पा. जिनविजयजी, सिंधी जैन ज्ञानपीठ, अहमदाबाद, कलकत्ता १९३९, १/१/१३.

(५०) (अ) प्रमाणान्तरमपेक्षते इत्येकं वैशद्यलक्षणम्। इदन्तया प्रतिभासो वा इति इदन्तया विशेषनिष्ठतया यः प्रतिभासः सम्यगर्थनिर्णयस्य सोऽपि वैशद्यम्--

प्रमाणमीमांसा १/१/१४

(ब) तत्त्वार्थाधि०। १/२८

(५१) द्विविधोऽवधिः। सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १/२१

(५२) नारकाणां देवानां च यथात्वं भवप्रत्ययमवधिज्ञानं भवति।वही १/२२

(५३) वही १/२२

(५४) यथास्वं भवप्रत्ययमवधिज्ञानं भवति। वही १/२२

(५५) देवानामपि यद् यस्य सम्भवति तच्च यथास्वमिति विज्ञेयम् भवप्रत्ययं भवकारणं अधोऽधो विस्तृतविषयमवधिज्ञानं भवति। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर सिद्धर्षिटीका-सेठ देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथांक ६७- बंबई १९२६, भाग-१, १/२२, पृ. ९६

(५६) तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १/३२

(५७) शेषाणमिति नारक देवेभ्यः शेषाणां तिर्यग्योनिजानां मनुष्याणां च। सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, १/२३

(५८) सर्वार्थसिद्धि १/२२, पृ. ९०

(५९) यथोक्त सम्यग्दर्शनादिमित्तसंनिधाने सति शांतक्षीण कर्मणां तस्योपलब्धिर्भवति। वही-१/२२, पृ. ९०

(६०) तद्यथा अनानुगामिकं, आनुगामिकं, हीयमानकं, वर्धमानकं, अनवस्थितम्,अवस्थितमिति. सभाष्यतत्त्वार्थाधि. १/२३

(६१) सर्वार्थसिद्धि १/२२

(६२) तत्त्वार्थवार्तिक १/२२

(६३) सभाष्यतत्त्वार्थाधि. १/२२

(६४) वही. १/२२

(६५) वही. १/२२

(६६) वही. १/२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६७) वही. १/२२

(६८) वही. १/२२

(६९) देसोही, परमोही, सव्वोहि त्ति य तिघा ओही।
गोम्मटसार जीवकाण्ड ३७२ श्रीपरमश्रुत प्रभावक मंडल श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास वि.सं. २०४१

(७०) गोम्मटसार, जीवकांड - ३७६

(७१) आवश्यकनिर्युक्ति श्री भेरूलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट मुंबई, वि.सं. २०३८, २६-२८.७६.

(७२) विशेषावश्यकभाष्य, गा. ५७८

(७३) सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १/२४, पृ. ४२

(७४) आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाणभास माणो। गोम्मटसार जीवकाण्ड ११८.

(७५) आवश्यकनिर्युक्ति-७६।

(७६) नन्दीसूत्र (नन्दीसूत्र अनुयोगदाराई) २३-२५.

(७७) ऋजुविपुलमती मन:पर्याय:। सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र-१/२४

(७८) गोम्मटसार-जीवकाण्ड-४४०.

(७९) सर्वार्थसिद्धि १/९, तत्त्वार्थराजवार्तिक-१.२६.

(८०) विशेषावश्यकभाष्य-८४

(८१) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र-१/२६.

(८२) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र. १/२८

(८३) तद्न्तभागेमन:पर्यायस्य। वही-१/२९.

(८४) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र-१/३०.

(८५) नन्दीसूत्र-३

(८६) एगन्तेण परोक्खं लिंगिय मोहाइयं च पच्चक्खं। इंद्रिय मणोमवं जं तं संववहार पच्चक्खं।। विशेषावश्यकभाष्य गा. ९५.

(८७) (अ) तत्र सांव्यावहारिकं इन्द्रियानिन्द्रियम् प्रत्यक्षं। लघीयस्त्रय-४

(ब) मुख्यसांव्यवहारिकभेदेन द्वैविध्यं प्रत्यक्षस्य .... प्रमाण मीमांसा-१/१४

(स) प्रत्यक्षं द्विविधं-सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति। जैन तर्कभाषा, सम्पा. पं. सुखलालजी संघवी, सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद १९९३, पृ. ४

(८८) एतच्च द्विविधं इंद्रियजम्, अनिन्द्रियजं च। जैनतर्कभाषा, पृ.५

(८९) सभाष्यतत्त्वार्थाधि. १/१४.

(९०) अवग्रहेहापायधारणाभेदाच्चतुर्विधम्-जैनतर्कभाषा-पृ. ६.

(९१) प्रमाणनयतत्त्वालोक-२. ८

(९२) स्वोत्पत्तावात्मव्यापारमात्रापेक्षं पारमार्थिकं। जैनतर्कभाषा-पृ. २९१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org